दैनिक जागरण
मन और विचारों की पवित्रता से ही मनुष्य सद्कर्म करता है

भ्रष्ट अफसरों की छुट्टी

आयकर विभाग के एक दर्जन अधिकारियों की छुट्टी करने के बाद जिस तरह केंद्रीय उत्पाद एवं सीमा शुल्क विभाग के 15 अफसरों को जबरन रिटायर किया गया उससे यह स्पष्ट है कि मोदी सरकार ने भ्रष्ट अधिकारियों के खिलाफ निगाहें टेढ़ी कर ली हैं। भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे अधिकारियों के खिलाफ सख्ती बरतने का सिलसिला आगे भी कायम रहना चाहिए, क्योंकि टैक्स से संबंधित विभागों के अलावा केंद्र सरकार के अन्य विभागों में भी ऐसे अधिकारी हैं जो भ्रष्टाचार के गंभीर आरोपों से घिरे हैं। आखिर यह एक तथ्य है कि केंद्रीय सतर्कता आयोग करीब 120 अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई के लिए विभिन्न विभागों की मंजूरी का इंतजार कर रहा है। इनमें भारतीय प्रशासनिक सेवा के भी अधिकारी हैं और बैंकों के अफसर भी। यह ठीक नहीं कि भ्रष्टाचार के संगीन आरोपों से घिरे अधिकारियों के खिलाफ ठोस कार्रवाई धीमी गति से हो। यह काम तो आनन-फानन किया जाना चाहिए। इससे ही भ्रष्ट अधिकारियों के बीच कोई सही संदेश जाएगा और वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने से बाज आएंगे। भ्रष्ट अधिकारी एक दिन भी अपने पद पर नहीं रहने चाहिए। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि जिन अधिकारियों को जबरन रिटायर किया गया उनमें से कई ऐसे हैं जिन पर रिश्वतखोरी के गंभीर आरोप थे। इनमें कुछ निलंबित भी चल रहे थे। इसका मतलब है कि उनके खिलाफ जारी कानूनी कार्रवाई धीमी गति से ही आगे बढ़ रही थी। यह ठीक है कि जिन अधिकारियों को जबरन रिटायर किया गया उनके खिलाफ दर्ज मामले अदालतों में चल रहे हैं, लेकिन कोशिश यह होनी चाहिए कि उन्हें अपने किए की सजा जल्द मिले।

भ्रष्टाचार के गंभीर आरोपों से घिरे अधिकारियों को जिस नियम के तहत हटाया गया वह यह कहता है कि सरकार एक समय सीमा के बाद ही भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ कार्रवाई कर सकती है। स्पष्ट है कि उन अफसरों के खिलाफ भी कार्रवाई के उपाय खोजने होंगे जो सेवा में आने के कुछ समय बाद ही रिश्वतखोरी अथवा अन्य अनुचित कार्यों में लिप्त हो जाते हैं। यह जरूरी है कि उन अधिकारियों के खिलाफ भी सख्ती की जाए जो अपनी संपत्ति का विवरण समय पर नहीं देते या फिर आनाकानी करते हैं। इस सबके अलावा सरकार को इस पर भी ध्यान देना होगा कि आखिर टैक्स से संबंधित विभागों के अधिकारी इतनी आसानी से मनमानी कैसे कर ले रहे हैं? बेहतर हो कि उनके विवेकाधिकारों को परिभाषित करने के बारे में सोचा जाए। ऐसी भी कोई व्यवस्था करनी होगी जिससे जहां भ्रष्ट अधिकारी किसी तरह का संरक्षण न हासिल कर सकें वहीं ईमानदार अधिकारियों को प्रोत्साहन मिले। इसके लिए आवश्यक हो तो नियम-कानूनों में परिवर्तन किया जाना चाहिए। इसी के साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि नौकरशाही में समग्र सुधार कैसे किया जा सकता है, क्योंकि भ्रष्ट अधिकारी तो राज्यों की सेवाओं में भी हैं और यह एक तथ्य है कि केंद्रीय स्तर पर भले ही लोकपाल व्यवस्था बन गई हो, लेकिन राज्यों के स्तर पर सक्षम लोकायुक्त व्यवस्था का निर्माण अभी भी नहीं हो सका है। ऐसे में बेहतर यही होगा कि नौकरशाही में व्यापक सुधार के कदम उठाए जाएं।

हड़ताल की समाप्ति

कोलकाता के नील रतन सरकार मेडिकल कॉलेज अस्पताल में जूनियर डॉक्टरों के साथ हुई मारपीट के खिलाफ सात दिनों तक चली उनकी हड़ताल आखिरकार सातवें दिन खत्म हुई तो राज्य एवं केंद्र प्रशासन समेत आम लोगों से लेकर अन्य चिकित्सकों तक ने राहत की सांस ली। हड़ताल से स्वास्थ्य सेवा सिर्फ बंगाल में ही नहीं कई राज्यों में चरमरा गई थी। पिछले सात दिनों से डॉक्टरों की हड़ताल को लेकर जमकर सियासत हुई। मुख्यमंत्री ममता बनर्जी की चेतावनी के बाद स्थिति और गंभीर हो गई थी, परंतु आखिरकार जब सोमवार को राज्य सचिवालय में मुख्यमंत्री एवं जूनियर डॉक्टरों के प्रतिनिधियों के बीच बैठक हुई तो सारी समस्या सुलझ गई। डेढ़ घंटे की बैठक में मुख्यमंत्री ने आंदोलनकारी डॉक्टरों की सारी मांगें मानते हुए ड्यूटी के दौरान उनकी पूरी सुरक्षा का भरोसा दिया। सुरक्षा के बाबत उन्होंने प्रत्येक सरकारी अस्पताल में एक नोडल अधिकारी की नियुक्ति की भी घोषणा की। ममता ने उनकी अन्य शिकायतें एवं समस्याएं भी ध्यान से सुनीं। बैठक के बाद एनआरएस अस्पताल लौटकर जूनियर डाक्टरों ने हड़ताल वापस लेने की घोषणा की और राज्यभर में आंदोलन कर रहे अपने साथियों से जल्द से जल्द काम पर लौटने की अपील की, जिसके बाद सरकारी अस्पतालों में स्वास्थ्य सेवाएं सामान्य होने लगी। बैठक के बाद मुख्यमंत्री इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूरो साइंसेज में भर्ती हमले में जख्मी डॉक्टर परिबाह मुखर्जी से भी जाकर मिलीं और उनका हालचाल पूछा। राज्यपाल केसरीनाथ त्रिपाठी ने मसले के समाधान को मुख्यमंत्री एवं जूनियर डॉक्टरों की ओर से की गई पहल का स्वागत करते हुए उम्मीद जताई कि राज्य सरकार बैठक में लिए गए सारे फैसलों को पूरा करने के लिए कदम उठाएगी और डॉक्टर भी उच्च आदर्शों के साथ मरीजों की देखभाल करेंगे, परंतु एक सवाल यहां यह उठ रहा है कि हड़ताल के बाद ही सुरक्षा का वादा क्यों किया गया? यदि यह सब इंतजाम पहले से ही हो गया होता तो आज यह नौबत ही नहीं आई होती?

बाधा बनते बार-बार होने वाले चुनाव

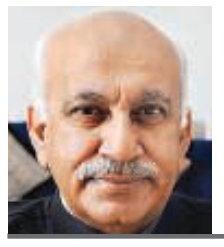

एमजे अकबर

हर पांच साल में चार महीने चुनावों के लिए आवंटित किए जा सकते हैं और शेष 56 माह लोकतंत्र के आधार यानी जनता की सेवा को समर्पित किए जा सकते हैं

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के चुनाव को कितना समय बीता? इस सवाल पर अगर आपका जवाब पांच वर्ष है तब आप संवैधानिक रूप से सही, लेकिन तथ्यात्मक रूप से गलत हैं। वास्तविक रूप से देखें तो किसी प्रधानमंत्री के पांच वर्षों के कार्यकाल में तकरीबन डेढ़ साल तो चुनाव प्रचार अभियान में खर्च हो जाते हैं। यदि चुनाव का कैलेंडर पहले से निर्धारित हो और उसे योजनाबद्ध ढंग से मूर्त रूप दिया जाए तो चुनाव अभियान की यह अवधि तीन से चार महीनों में सिमट सकती है। इससे सामान्य राज-काज के लिए वास्तविक रूप से एक साल का वक्त और मिल जाएगा। इसकी पुष्टि के लिए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के पहले कार्यकाल के दौरान के घटनाक्रम का विश्लेषण किया जा सकता है। 2014 में प्रधानमंत्री के रूप में लालकिले की प्राचीर से उन्होंने अपना पहला भाषण बमुश्किल खत्म ही किया होगा कि महाराष्ट्र, हरियाणा और झारखंड में चुनाव का बिगुल बज गया और उन्हें प्रचार अभियान में अग्रिम मोर्चा संभालना पड़ा। उनके कार्यकाल के अंत तक आते-आते राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में चुनावी रण शुरू हो गया। इसके कुछ महीनों बाद ही आम चुनाव का आगाज हो गया। इस बीच बिहार, बंगाल और कर्नाटक जैसे राज्यों की राजनीतिक जरूरतें भी सामने आती रहीं।

सैद्धांतिक रूप से विधानसभा चुनाव लोकसभा चुनावों पर प्रभाव नहीं डालते। हालांकि राज्यसभा में संख्याबल के लिहाज से इसका अपना नफा-नुकसान होता है, मगर व्यावहारिक रूप में शासन की गति और रूपरेखा पर उसका अहम प्रभाव होता है। सुशासन केवल फाइलों तक सिमटी हुई योजनाओं से नहीं सुनिश्चित होता, बल्कि उन योजनाओं के कुशलतापूर्वक क्रियान्वयन से संभव होता है। हमारे संघीय ढांचे के कई दिलचस्प पहलू हैं। उनमें से एक तो यही है कि इस ढांचे के सबसे सशक्त भाग यानी केंद्र सरकार भारत के किसी बड़े भूभाग पर प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं करती। केंद्र का प्रत्यक्ष नियंत्रण उन छिटपुट संघ शासित प्रदेशों तक सीमित है जिन्हें बस भ्रम ही कहा जा सकता है। भारत राज्य सरकारों द्वारा शासित होता है। हालांकि केंद्र अपनी खुद की राष्ट्रव्यापी नीतियों को लेकर पहल कर सकता है, लेकिन उनके व्यापक प्रबंधन का काम राज्य सरकारों के माध्यम से होता है। यह असमान विकास की एक वजह हो सकती है, लेकिन इस सिद्धांत का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। हम एक परिसंघ हैं और इसका स्वरूप इसी प्रकार होना चाहिए।

अपने पहले कार्यकाल में प्रधानमंत्री मोदी उन समस्याओं से भलीभांति परिचित थे जिनका सामना उन्होंने गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में किया था। इसके चलते जीएसटी जैसे क्रांतिकारी सुधार में राजस्व को लेकर केंद्र और राज्यों के बीच अगर कोई उलझन फंसी भी तो उसे कुशलतापूर्वक सुलझा लिया गया। अनुभव यही दर्शाते हैं कि विकास की धारा तभी तेज हुई जब केंद्र और राज्य दोनों में सद्भाव कायम रहा। ऐसा सद्भाव सदैव संभव है। तब भी जब केंद्र और राज्य दोनों में अलग-अलग दलों की सरकार हो, लेकिन किसी भी राष्ट्रीय दल के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपनी पार्टी के मुख्यमंत्री को वरीयता दे, मगर वर्ष 2014 में जबसे नरेंद्र मोदी प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि शासन-प्रशासन के मामले में दलगत राजनीति कभी आड़े नहीं आ सकती। सहभागिता और गतिशील विकास ही वह पैमाना होना चाहिए जो एक साझा लक्ष्य के लिए सभी चुने हुए नेताओं को जोड़ने वाली कड़ी बने। इसमें जनता और राष्ट्र को प्राथमिकता मिले। हमारे समक्ष चुनौतियों की गंभीरता को देखते हुए कोई भी हार गवारा नहीं कर सकता।

अवधेश राजपूत

प्रधानमंत्री नए भारत का सपना साकार करना चाहते हैं जिसमें भयावह गरीबी पूरी तरह मिट गई हो और जहां आर्थिक वृद्धि का प्रतिफल सभी तबकों तक पहुंचे। प्रधानमंत्री मोदी से पहले भारत के आर्थिक शासन-प्रशासन में भूखे-गरीबों और निःशक्तों में से किसी को या फिर दोनों को ही छोड़ दिया जाता था। मगर मोदी के निर्णायक कदमों ने गरीबों को सहभागी विकास का एक और इंजन बना दिया है। इसमें जन धन और मुद्रा योजना के जरिये पूंजीगत मदद से उनकी क्षमताओं में सुधार हो रहा है।

यह नहीं कहा जा सकता कि पहले सत्ता में रहे नेताओं के इरादे अच्छे नहीं थे, लेकिन उनकी भली मंशा के बावजूद अपेक्षित नतीजे नहीं मिल पाए। तंत्र की सुस्त रफ्तार और निष्प्रभावी तौर-तरीके लोगों की बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाए। भारत की सबसे गरीब एक चौथाई आबादी अभी भी अपनी अगली खुराक को लेकर अनिश्चितता से जूझती है। वह अपने अस्तित्व के संकट से जूझने में लगी है। इस साल चुनाव में मतदान करने वालों ने वह महसूस किया जिसे स्वयंभू राजनीतिक पंडित नहीं भांप पाए कि एक मजबूत नेता को मजबूत सरकार के लिए संख्याबल भी चाहिए। दूसरे कार्यकाल में त्वरित और नए तौर-तरीकों वाली शुरुआत दर्शाती है कि पीएम मोदी मतदाताओं विशेषकर युवाओं द्वारा उनके कंधों पर सौंपी गई जिम्मेदारी को लेकर कितने गंभीर और सचेत हैं। महज एक निर्णय के माध्यम से वह बीते सत्तर वर्षों में कहीं बड़े प्रशासनिक सुधार का सूत्रपात कर चुके हैं। इस निर्णय के तहत केंद्र सरकार में संयुक्त सचिव स्तर के 40 प्रतिशत पदों पर आइएएस सेवा से इतर विषय विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाएगी। यह एक ऐसे संस्थान में सराहनीय परिवर्तन है जो स्वयं को किसी भी किस्म के बदलाव से बचाता आया है।

विपक्षी दल अक्सर किसी भी नए विचार का इस कारण विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि सत्तारूढ़ दल ने अपने हितों को साधने के लिए इसे लागू किया है। मगर सभी चुनावों को एक साथ कराने का विचार नया नहीं है। यह हमारे संविधान में वर्णित सबसे पुराने विचारों में से एक है। वर्ष 1952 से 1967 के बीच यह सामान्य चलन था। यह विसंगति तब आनी शुरू हुई जब कांग्रेस 1967 में पंजाब से लेकर बंगाल तक राज्य विधानसभाओं के चुनाव हार गई। उनकी जगह लेने वाली संयुक्त मोर्चा सरकारें जनादेश का पालन करने में बुरी तरह नाकाम रहीं। इससे चुनावी कैलेंडर की तस्वीर बदल गई। कालांतर में यह कार्यक्रम और खंडित होता गया जब इंदिरा गांधी ने 1971 में समय से पहले चुनाव कराने का फैसला किया और बाद में तानाशाही के जरिये अपना कार्यकाल 1977 तक बढ़ा लिया। इस दशक में जो प्रावधान भूल सुधार के लिए बना था वही नया चलन बन गया। हम अभी तक उसके साथ अटके हुए हैं।

पीएम मोदी हमारे लोकतंत्र के मूल और व्यावहारिक स्वरूप को बहाल करने की कोशिश में जुटे हैं। हर पांच साल में चार महीने चुनावों के लिए आवंटित किए जा सकते हैं और शेष 56 माह लोकतंत्र के आधार यानी जनता की सेवा को समर्पित किए जा सकते हैं। वक्त आ गया है कि चुनावी विसंगति को संविधान की रूपरेखा और लक्ष्यों के अनुरूप सुसंगत किया जाए।

(लेखक पूर्व केंद्रीय मंत्री एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

response@jagran.com

नकारात्मक राजनीति के नए संकेत

राजीव सचान

क्या विपक्ष यह समझेगा कि उसे तार्किक होने की जरूरत है, न कि संख्याबल के लिहाज से ताकतवर होने की?

लोकसभा चुनाव नतीजों के बाद से यह एक स्वर बार-बार सुनाई दे रहा है कि अबकी बार विपक्ष बड़ा कमजोर है। इसी के साथ लोकतंत्र में सशक्त विपक्ष की महत्ता को भी रेखांकित किया जा रहा है। यह निराधार नहीं, लेकिन यह पहली बार नहीं जब सत्ताधारी दल के हिस्से में तीन सौ से अधिक सीटें दिख रही हों। नेहरू, इंदिरा और राजीव गांधी के समय 1967 को छोड़कर कांग्रेस ने जब भी सत्ता हासिल की उसने साढ़े तीन सौ से अधिक सीटें जीतीं। 1984 में तो इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए चुनाव में कांग्रेस ने 404 सीटें हासिल की थीं। इस बार भाजपा ने अपने दम पर 303 और सहयोगी दलों के साथ साढ़े तीन सौ से अधिक सीटें हासिल की हैं। स्पष्ट है कि विपक्ष उतना कमजोर नहीं है जितना बताया जा रहा है। सच्चाई यह है कि आज का विपक्ष कमजोर कम, बल्कि बिखरा हुआ और अतार्किक अधिक है। इससे भी खराब बात यह है कि वह विरोध के लिए विरोध की मानसिकता से ग्रस्त है। यह मानसिकता नई नहीं है, लेकिन बीते करीब दो दशकों से यह अधिक देखने को मिल रही है। इसी मानसिकता के चलते 1998 में वाजपेयी सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था। इस प्रस्ताव का मूल कारण यह था कि वाजपेयी सरकार को समर्थन दे रहीं अन्नाद्रमुक नेता जयललिता नाराज होकर सोनिया गांधी के साथ चाय पीने चली गई थीं। इस चाय पार्टी के आयोजक-संयोजक थे सुब्रमण्यम स्वामी। वाजपेयी सरकार महज एक वोट से गिर गई थी। आज शायद ही किसी को पता हो कि यह अविश्वास प्रस्ताव क्यों लाया गया था? कुछ नेताओं की सनक के चलते मध्यावधि चुनाव हुए और वाजपेयी सरकार और अधिक सशक्त होकर सत्ता में लौटी। 2004 में वह अप्रत्याशित रूप से सत्ता से बाहर हो गई। उसने वादा तो यह किया कि वह रचनात्मक विपक्ष की भूमिका निभाएगी, लेकिन कई अवसरों पर उसने नकारात्मक रवैये का ही परिचय दिया। इसका एक बड़ा प्रमाण तब मिला जब उसने अमेरिका से हुए परमाणु समझौते का विरोध करना शुरू कर दिया। इस समझौते के विरोध का कोई औचित्य नहीं था, फिर भी भाजपा यही कहती रही कि यह समझौता देशहित में नहीं। यह पता नहीं कि परमाणु समझौते पर लोकसभा में मतदान के दौरान वोट के बदले नोट का जो सनसनीखेज मामला सामने आया उसके पीछे कौन था, लेकिन जो भी था उसका इरादा सरकार को गिराना था। कायदे से इस मामले की तह तक जाया जाना चाहिए था, लेकिन कोई नहीं जानता कि ऐसा क्यों नहीं हो सका?

2009 में अगर कांग्रेस के नेतृत्व वाला गठबंधन फिर से सत्ता में आया तो इसका एक कारण बतौर विपक्ष भाजपा की नकारात्मक राजनीति थी। 2014 में कांग्रेस अपने खराब कर्मों से सत्ता से बाहर हुई। उसे महज 44 सीटें मिलीं। जब यह माना जा रहा था कि वह अपनी करारी हार पर ईमानदारी से आत्ममंथन करेगी तब वह इस नतीजे पर पहुंची कि जनता ने गलती कर दी है। पूरे पांच साल वह ऐसे व्यवहार करती रही जैसे गलती उसकी नहीं, बल्कि नासमझ जनता की है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस पूरे पांच साल संसद के दोनों सदनों में हंगामा करने और टीवी कैमरों के सामने नारे लिखी तख्तियां दिखाने की कोशिश करती रही। उसके सांसद किसी मसले पर बहस के बजाय इसकी तैयारी करते दिखते रहे कि तख्तियों में क्या नारे लिखे जाएं और उन्हें सदन में इस तरह कैसे लहराया जाए कि वे टीवी कैमरों में आ जाएं? 2015 में संसद का वह मानसून सत्र याद करें जो ललित मोदी कांड के नाम पर बर्बाद कर दिया गया था। कांग्रेस इस मामले को किसी बड़े घोटाले की शक्ल देकर संसद के दोनों सदन बाधित किए रही। इसके बाद रह-रह कर सरकार के खिलाफ कथित गंभीर मसले खोजकर संसद के कामकाज को बाधित किए जाने की परंपरा को पुष्ट ही किया गया। यह काम राफेल सौदे को लेकर भी किया गया।

राहुल गांधी कभी भूकंप लाने की बात करते रहे और कभी यह डींग हांकते रहें कि प्रधानमंत्री उनके सामने खड़े नहीं हो पाएंगे। एक और करारी हार के बाद राहुल गांधी यह मान रहे हैं कि पार्टी के अन्य नेताओं ने चौकीदार चोर है नारे का इस्तेमाल उतने जोर-शोर से नहीं किया जितना उन्होंने किया। वह इस नतीजे पर भी पहुंचे हैं कि मोदी नफरत के बल पर चुनाव जीत गए हैं। मोदी के खिलाफ राहुल की अभद्र भाषा की अनदेखी कर सोनिया गांधी यह कह रही हैं कि सत्ता के लिए मर्यादा का उल्लंघन किया गया। प्रियंका गांधी ने रायबरेली में सोनिया गांधी की जीत का अंतर कम होने पर अपने कार्यकर्ताओं को यह चेतावनी दे डाली कि वह उनकी पहचान करेंगी जिन्होंने ढंग से मेहनत नहीं की। गांधी परिवार के सदस्यों के ऐसे बयानों को देखते हुए इसके आसार कम ही हैं कि कांग्रेस जिम्मेदार विपक्ष की भूमिका निभाएगी। वैसे भी राहुल गांधी यह कह चुके हैं कि उनके 52 सांसद संसद में भाजपा को बच निकलने का मौका नहीं देंगे। बात केवल लोकसभा में ही विपक्ष के आचरण की नहीं है, क्योंकि यह किसी से छिपा नहीं कि बीते पांच साल लोकसभा से पारित विधेयक किस तरह राज्यसभा में रोके जाते रहे?

राज्यसभा में विपक्ष अपने बहुमत का इस्तेमाल कुछ इसी भावना से करता दिखा जैसे जनता की कथित गलती को ठीक करने की जिम्मेदारी उस पर आ गई है। राज्यसभा को वरिष्ठों का सदन मानते हुए यह कहा जाता है कि इस सदन में कहीं अधिक धीर-गंभीर होकर चर्चा की जाती है, लेकिन बीते पांच साल में इसका उलट देखने को मिला। लोकसभा से अधिक हंगामा राज्यसभा में हुआ। संसद में पक्ष-विपक्ष के बीच नोकझोंक और विवाद लोकतंत्र का हिस्सा है, लेकिन विरोध के लिए विरोध का कोई मतलब नहीं। मुश्किल यह है कि आज यदि चार सांसद भी ठान लें तो वे लोकसभा या राज्यसभा को पंगु बना सकते हैं। यदि हंगामा करने वाले सांसदों के खिलाफ कभी कोई कार्रवाई की जाए तो गांधी प्रतिमा के नीचे बैठकर यह कहा जाने लगता है कि विपक्ष का मुंह बंद किया जा रहा है। एक समय विपक्ष जब वाकई बहुत दुर्बल हुआ करता था तब उसके पास राममनोहर लोहिया, पीलू मोदी, इंद्रजीत गुप्त, अटल बिहारी वाजपेयी आदि ऐसे नेता होते थे जो अकेले ही सत्तापक्ष को कठघरे में खड़ा करने में समर्थ रहते थे। चंद्रशेखर के अवसान के बाद ऐसा कोई नेता नहीं दिखता। शरद पवार बुजुर्ग नेता अवश्य हैं, वह विपक्ष की हार के लिए ईवीएम को जिम्मेदार ठहरा रहे हैं। ये तो नकारात्मक राजनीति के नए संकेत ही हैं। इसी कारण यह कहना कठिन है कि विपक्ष यह समझेगा कि उसे तार्किक होने की जरूरत है, न कि संख्याबल के लिहाज से ताकतवर होने की।

(लेखक दैनिक जागरण में एसोसिएट एडीटर हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

जैसे को तैसा

पुरानी कहावतें आज भी प्रासंगिक हैं। लोग अपनी सुविधा अनुसार उनका प्रयोग करते हैं। जैसे को तैसा, जैसी करनी वैसी भरनी, खून के बदले खून आदि। लोगों को जब किसी व्यक्ति से चोट लगती है तो वे भी उसे चोट पहुंचाने की सोचते हैं। इसके लिए रणनीतियां बनाने लगते हैं, पर कभी भी बुराई से बुराई को समाप्त नहीं किया जा सकता। जैसे को तैसे की भावना व्यक्ति को नीचे की ओर ही लेकर जाती है, क्योंकि किसी को छोटा दिखाने के लिए व्यक्ति को स्वयं को निचले स्तर पर लाना पड़ता है। व्यक्ति जब अपना अभिमान दिखाता है तो उसका स्वाभिमान स्वतः ही कम हो जाता है। स्वाभिमान का स्तर कम होने से व्यक्ति के जीवन में समस्याएं और संघर्ष उत्पन्न होने लगते हैं। किसी व्यक्ति के दुर्व्यवहार का बदला दुर्व्यवहार में देने वाले लोग उसके इर्द-गिर्द ही सोचते रहते हैं। उनका मस्तिष्क एक छोटे से केंद्र बिंदु तक आकर सीमित रह जाता है, जबकि जो व्यक्ति जीवन में आगे बढ़ते रहते हैं उनके मस्तिष्क का विस्तार होता रहता है।

वे जीवन में नई-नई बातें सीखते हैं। एक वक्त ऐसा आता है कि वे अपने जीवन में इतना आगे बढ़ जाते हैं कि दुर्व्यवहार करने वाले व्यक्ति का नामोनिशान मिट जाता है। कोई भी कार्य अथवा वस्तु व्यक्ति के जेहन में तब तक जीवित रहता है, जब तक व्यक्ति उसे अपने साथ लेकर चलता है। जैसे ही व्यक्ति उसे अपने मन मस्तिष्क से निकाल देता है, वैसे ही उसके लिए असीमित मार्ग खुल जाते हैं। जब एक व्यक्ति चिल्लाकर बात करता है तो दूसरा भी उससे अधिक चिल्लाकर जवाब देता है। यदि चिल्लाने वाले व्यक्ति की बात का जवाब धीमे स्वर में शांति से दिया जाए तो कई दुर्घटनाओं पर काबू पाया जा सकता है। मनोविज्ञान भी इसे सिद्ध कर चुका है कि यदि आप आवाज नीचे रखेंगे तो न ही क्रोध आएगा और न ही आपके अंदर जैसे को तैसा साबित करने वाली मनःस्थिति बनेगी। जैसे को तैसा साबित करने वाली स्थिति व्यक्ति को विनाश की ओर ले जाती है। जैसे को तैसा कहावत को वास्तव में जैसे को तैसा क्यों भला? होना चाहिए। यदि व्यक्ति को महानता की ओर बढ़ना है तो अपने अंदर से अहम और प्रतिशोध जैसी भावनाओं को निकालना होगा। ये भावनाएं ही जैसे को तैसा की स्थिति उत्पन्न करती हैं।

रेनू सैनी

हिंसा की आग में झुलसते चिकित्सक

आशुतोष कुमार सिंह

एक डॉक्टर को डॉक्टर बनने में कितनी कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है, इसका अंदाजा आम आदमी नहीं लगा पाता है

हाल के दिनों में डॉक्टरों पर भीड़ के हमले बढ़े हैं। नया मामला पश्चिम बंगाल से सामने आया है। वहां के डॉक्टरों को भीड़ ने इसलिए निशाना बनाया, क्योंकि एक बुजुर्ग को वे मरने से नहीं बचा सके। देश के लोगों में आम धारणा है कि डॉक्टर लूटते हैं। डॉक्टर ठीक से इलाज नहीं करते। कुछ एक मामलों में यह बात सही है, लेकिन जब हम सार्वभौमिकता में बात करते हैं तो यह बात बिल्कुल भी सही नहीं है। एक डॉक्टर को डॉक्टर बनने में कितनी कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है, इसका अंदाजा आम आदमी नहीं लगा पाता है। लाखों रुपये की फीस चुकता करने और अपने जीवन के 10-12 साल देने के बाद एक चिकित्सक पैदा होता है। और यह समाज उस चिकित्सक को भगवान का दर्जा देकर यह कहता है कि चिकित्सक बीना फीस लिए मरीजों का इलाज कर दे। एमबीबीएस की डिग्री प्राप्त कर प्रैक्टिस करने के लिए जब कोई चिकित्सक समाज में आता है तब उसके सामने अपनी रोजी-रोटी का भी सवाल होता है और साथ ही उस पूंजी की रिकवरी का भी प्रश्न होता है जो या तो उसने अपनी जमीन बेच कर लगाई होती है या कर्ज लेकर। यहां पर एक प्रश्न चिकित्सक बनने की प्रक्रिया का भी है। आखिर चिकित्सक बनाने वाला तंत्र इतना महंगा क्यों है? अगर चिकित्सक बनाने का खर्च कम हो जाए और किसी को चिकित्सक बनने के लिए आर्थिक रूप से विपन्न न होना पड़े तो निश्चित रूप से जो चिकित्सक बनेंगे वे कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को ज्यादा समझ पाएंगे।

यहां पर एक बात और समझने की है कि समाज के अधिकांश लोग अपने-अपने क्षेत्र में भ्रष्ट आचरण को बढ़ावा दे रहे हैं और डॉक्टर से सदआचरण की अपेक्षा रखते हैं। समाज जब कहता है कि चिकित्सक को इलाज का खर्च कम करना चाहिए, उसी समय समाज का यह भी दायित्व बनता है कि वह सरकार से कहे कि वह चिकित्सक बनने की प्रक्रिया को सस्ता करे। डोनेशन लेकर प्रवेश देने वाले निजी मेडिकल कॉलेजों से कहें कि वे कम खर्चे में चिकित्सा की पढ़ाई कराएं, लेकिन ऐसा करना हमारे समाज को अच्छा नहीं लगेगा। सच्चाई तो यह है कि भ्रष्टाचार में आकंठ डूबा हमारा समाज एक-दूसरे को भ्रष्टाचारी बता कर खुद को सदविचारी स्थापित करने में जुटा हुआ है। एक डॉक्टर की व्यथा को समझना हो तो आप किसी भी सरकारी अस्पताल में जाकर देखिए कि एक डॉक्टर को कितने मरीजों को देखना पड़ता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन कहता है कि 1000 की आबादी पर एक फिजिशियन होना चाहिए, लेकिन अपने देश में 1700 लोगों पर एक डॉक्टर है। डॉक्टरों पर काम का दबाव दोगुना है।

किसी मरीज का इलाज करने के लिए एक डॉक्टर को मानसिक शांति की जरूरत होती है, लेकिन जब समाज उस डॉक्टर को एक खलनायक के रूप में निरूपित करने लगता है तो डॉक्टर कोई भी जोखिम लेने के पहले 100 बार सोचता है। चिकित्सकों के खिलाफ बढ़ रही हिंसा की घटनाएं स्वस्थ समाज के लिए चिंतनीय प्रश्न है। इस विषय पर समाज और सरकार, दोनों को गहन चिंतन-मनन करने की जरूरत है।

(लेखक स्वस्थ भारत न्यास के चेयरमैन हैं)

मेलबाक्स

संवैधानिक मर्यादा सिखाना जरूरी

एनके सिंह के लेख 'केंद्र-राज्य संबंधों में सुधार की जरूरत' से असहमत नहीं हुआ जा सकता, लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया है कि जब कोई मुख्यमंत्री देश के प्रधानमंत्री को प्रधानमंत्री मानने से ही इन्कार कर दे, सीबीआइ के अधिकारियों को बंदी बना दे तो क्या किया जाए? न्यायपालिका बार-बार कह रही है कि बंगाल में विधि-अनुसार शासन नहीं चल रहा है, किंतु केंद्र पसोपेश में है कि वह अनुच्छेद 356 का उपयोग कर राज्य सरकार को बर्खास्त करे कि नहीं करे, क्योंकि राज्यसभा में बहुमत के अभाव में कहीं उसका यह प्रस्ताव गिर न जाए। वास्तव में केंद्र सरकार की इस परेशानी का फायदा ममता बनर्जी उठा रही हैं। यह उचित नहीं है। यदि यही स्थिति रही तो आने वाले दिनों में संवैधानिक अनुशासनहीनता के और नए उदाहरण देखने को मिल सकते हैं।

अजय मित्तल, मेरठ

लौट पाएगी बेकसूरों की जान?

डॉक्टरों की हड़ताल आखिरकार खत्म हो गई, पर इस बीच जिन बेकसूर मरीजों की जानें गई हैं क्या वे फिर से लौट पाएंगी। यह विचारणीय प्रश्न है। कोलकाता के एनआरएस मेडिकल कॉलेज में जूनियर डॉक्टर के साथ हुई मारपीट की घटना को लेकर 'इंडियन मेडिकल एसोसिएशन' ने देशव्यापी हड़ताल का एलान करके लाखों पीड़ितों के जख्म पर नमक छिड़क दिया। इसे मानवीय सेवा के खिलाफ कदम कहा जा सकता है। ममता ने अगर शुरुआती दौर में ही समझदारी से काम लिया होता तो शायद इसका हल तभी निकाला जा सकता था। डॉक्टरों की हड़ताल से दो प्रश्न उभर कर सामने आ रहे हैं। एक अस्पतालों में संसाधनों की कमी और दूसरा सुरक्षाकर्मियों की कमी। डॉक्टरों पर हो रहे हमले रोकने के लिए महाराष्ट्र में 2010 में कानून में संशोधन किया गया था, पर क्या हुआ। मुंबई के पास एक अस्पताल में शिवसेना के एक नेता की मृत्यु होने पर पूरा अस्पताल जला देने की घटना याद कर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। समस्या कोई भी हो उसे लटकाकर रखने की राजनीति हानिकारक है। नेताओं को तो किसी भी मुद्दे पर वोट की रोटी सेकने की आदत है। अस्पतालों की आधारभूत संरचना की आपूर्ति के लिए सभी राज्य सरकारें तत्परता से निर्णय नहीं लेतीं। बेहतर इलाज के लिए राज्य सरकार ही नहीं, केंद्र सरकार को भी स्वास्थ्य बजट पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। किसी भी क्षेत्र में हड़ताल की नौबत क्यों आती है? सोचने वाली बात है।

nutankumarpatni@gmail.com

ऐसे तो अराजक हो जाएंगे

मुखर्जी नगर में एक ग्रामीण बस सेवा चालक का पुलिस वालों से किसी बात को लेकर कहा सुनी हो गई। देखते ही देखते कहा सुनी झगड़े में तब्दील हो गई। आवेग में आकर चालक ने तलवार से पुलिस वालों पर हमला कर दिया, जिससे एक पुलिस वाले के सिर पर गंभीर चोट आ गई। इतना ही नहीं चालक के नाबालिग बेटे ने बस चढ़ा कर पुलिसवालों को मारने की कोशिश की। इसके बाद पुलिसवालों ने जब चालक और उसके नाबालिग बेटे की पिटाई की तो तूफान खड़ा हो गया। क्या जनता द्वारा पुलिस वाले के साथ बर्बरता करना उचित था? क्या वाकई पुलिसवालों को सस्पेंड करना चाहिए? मेरा मानना है जनता के साथ-साथ पुलिसवालों का भी पक्ष जानना जरूरी है। कहीं ऐसा ना हो देश में अराजकता का माहौल बन जाए और ताकतवर लोग सड़कों पर ही फैसला करने लग जाएं।

प्रकाश चंद, उत्तम नगर, नई दिल्ली

मासूमों की मौत

विज्ञान और प्रशासन अपनी सफलता के बड़े-बड़े दावे करते रहते हैं, लेकिन बिहार में चमकी बुखार और लू से सैकड़ों लोग की मौत का उनके पास कोई जवाब नहीं है। यह जितना दुखद है उतना शर्मसार करने वाला भी है। मासूम बच्चे बेमौत मर रहे हैं और हम कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। आखिर इन सभी म